ठीक है। एरोगेन्स ऑव इग्नोरेंस इज अनबिलीवेबॅल। संसार में ऐसा कभी हुआ ही नहीं है कि आपको पता भी नहीं है और आप एरोगेण्ट हैं।

पश्चिम में एक जीवन्त शक्ति है। आप अगर उसके बारे में खुले मन से सोचेंगे तो आप पश्चिम को भी नये रूप में समझेंगे, अपने को भी नये सिरे से समझेंगे और जिस 'आरम्भ' की बात हम करना चाहते हैं वह कुछ नये प्रकार का हो सकेगा। कम से कम वह अंधा नहीं होगा। आज हम कितने अंधे होते जा रहे हैं! रोज़ अखबार में पढ़ते हैं कि दिल्ली में पानी और हवा जीवन के लिए हानिकारक हैं। हमें इन सबके कारण भी पता हैं। लेकिन हम सोचते हैं कि विकास का अर्थ यही है कि गाड़ियाँ कितनी हैं। विकास का मतलब ही यही है कि धुआँ कितना है। आप तो भोपाल में रहते हैं जहाँ ट्रेजिडी हुई थी। लेकिन वास्तव में आज यह विकास का लक्षण माना जाता है। कौन यह कहेगा कि यह विकास नहीं है! अगर आपकी सड़कों पर अधिक मोटरें चलती हैं तो यही कहा जायेगा कि विकास हो रहा है। आपके प्रदेश में कितने विश्वविद्यालय हैं, यह विकास का लक्षण है, जबकि सबको पता है कि वहाँ पढ़ाई नहीं होती। एक तरफ आप कहते हैं कि पढ़ाई नहीं होती, कि लड़के को लिखना नहीं आता, दूसरी तरफ कहते हैं विकास हो रहा है। इसी के आधार पर तो आँकड़े बनते हैं। ये आँकड़े उन चीजों के हैं जिनको पश्चिम ने विकास का मापदण्ड माना है। उन मापदण्डों पर हम अपने को तौलते हैं। यदि वे मापदण्ड हम नहीं स्वीकारें तब क्या होगा? हमने अपने मापदण्ड तो नहीं बनाये! क्या पश्चिम के बारे में, पश्चिमी सभ्यता के बारे में, ज्ञान के बारे में हमारे अपने मापदण्ड हैं।

आरम्भ थोड़ा खुला होता है; कम से कम भ्रम जरूर होता है कि वह खुला है। और उसमें हमें थोड़ा चयन का अधिकार होता है, कल्पना का अधिकार होता है, पुरुषार्थ का अधिकार होता है। इसीलिए कम से कम जो अपने प्रारम्भ में है, उसके बारे में, हम कुछ नये सिरे से सोच सकते हैं। हम अपने अनुभूत सत्य को ईमानदारी से कहें कि यह विकास नहीं है, विकास कुछ और है। इस आरम्भ में हम विचार, अनुभूति, साधना, धर्म आदि के क्षेत्र में, अपनी पुरानी विरासत को लेकर आगे बढ़ें तो मैं समझता हूँ कि शायद कुछ नया हो सकता है। ऐसा नहीं है कि इस देश में कुछ हुआ नहीं है। पुराने लोगों की बात करने से ज्यादा फायदा नहीं है लेकिन जिस शताब्दी ने आपको गाँधी, अरविन्द जैसे लोग दिये हैं, बिनोवा जैसे लोग दिये हैं उसी शताब्दी का अन्त एक महापुरुष से हो रहा है—अठवले पाण्डुरंग शास्त्री। जरा उनका 'स्वाध्याय आन्दोलन' देखिये! जिस व्यक्ति ने लाखों लोगों के जीवन में परिवर्तन कर दिया उसके कार्य को विकास नहीं माना जाता, वह प्लानिंग कमीशन में नहीं है! यह क्या हो रहा है अपने देश में! लेकिन उसने एक नयी दिशा दी है और इसी से यह आश्वासन होता है कि, जो आरम्भ हो रहा है, वह पूर्ण रूप से अंधकारमय नहीं है। ❑

भारतीय संस्कृति, दर्शन और पुरुषार्थ-चिंतन

वेदान्त का नाम भारतीय संस्कृति और दर्शन से इतना गहरा जुड़ा हुआ है कि बहुत लोगों की राय में वे करीब-करीब एक ही हैं। पर जिन लोगों को दर्शन के इतिहास का जरा सा भी पता है उन्हें यह मालूम है, या होना चाहिये, कि 'वेदान्त' नाम से पुकारा जाने वाला कोई विशिष्ट दार्शनिक सम्प्रदाय कम से कम आठवीं शताब्दी तक इस रूप में नहीं जाना जाता था। हरिभद्र सूरी ने अपने ग्रंथ षडदर्शनसमुच्चय में 'वेदान्त' की चर्चा स्वतंत्र दार्शनिक सम्प्रदाय के रूप में नहीं की है, और न ही उन्होंने इसके किसी विशिष्ट ग्रंथ या आचार्य की बात कही है। उन्होंने तो इसे मीमांसा का अंग माना था, और 'उत्तर मीमांसा' कहकर ही प्रस्तुत किया है। यह चर्चा उन्होंने मीमांसा की ही की थी, और उसे 'जैमिनीय' कहा है और उसके संदर्भ में कुमारिल और प्रभाकर के मतों की चर्चा की है। 'उत्तरमीमांसा' को उन्होंने 'वेदान्त' जरूर कहा है, लेकिन इस संदर्भ में न ब्रह्मसूत्र की बात की है और न बादरायण की। यही नहीं, उन्होंने कहीं भी 'अद्वैत' का नाम नहीं लिया है, और इससे पता चलता है कि अद्वैत शब्द का प्रचलन आचार्य शंकर के बाद ही शायद शुरू हुआ होगा। इसके अलावा हरिभ्रद्र सूरी के वर्णन से ऐसा लगता है कि उस समय यह प्रधानत: साधना-केन्द्रित सन्यासियों में प्रचलित था, क्योंकि वे चार तरह के वेदान्ती सन्यासियों की बात करते हैं, जिनके नाम 'कुटीचर', 'बहूदक', 'हंस' और 'परमहंस' थे। इनमें से पहले दो, शिखा और ब्रह्मसूत्र रखते थे। और दूसरे दो उनका भी त्याग कर देते थे। ब्रह्मसूत्र का अर्थ यहाँ कुछ ऐसी चीज़ से है जो जनेऊ या यज्ञोपवीत की तरह पहना जाता था, जिसको 'हंस' व 'परमहंस' छोड़ देते थे। परमहंस सन्यासियों के बारे में लिखा है कि वे शूद्रों के घर भी भोजन कर लेते थे।

इन सब से ऐसा लगता है कि सन्यास की परम्परा वेदान्त सम्प्रदाय में शंकर से पहले थी, और ऐसा मानना कि शंकर ने ही दशनामी सन्यासियों को संगबद्ध किया पूर्ण रूप से ठीक नहीं लगता। शायद शंकर के पहले वेदान्ती सन्यासी

केवल चार प्रकार के होते थे। उन्होंने उन्हें कुछ नये भागों में विभक्त किया, सुसंगठित व क्रमबद्ध रूप देने की कोशिश की।

यही नहीं, शंकर के भाष्य से, जो उन्होंने बृहदारण्यक उपनिषद् पर लिखा है ऐसा प्रतीत होता है कि ब्रह्मविद्या नाम का सम्प्रदाय उनके समय में था, और वे अपने को उसी सम्प्रदाय में रखते प्रतीत होते हैं। यह सम्प्रदाय प्रधानत: सन्यासियों का था और उनसे पहले शायद उनका दूसरा कोई अपना शास्त्र नहीं था। इसलिए उन्होंने शायद पहली बार एक सुसंगठित शास्त्र-केन्द्रित दर्शन-सम्प्रदाय की स्थापना की और उसे उपनिषदों, गीता और ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखकर सुदृढ़ आधार देने की कोशिश की। यह ठीक है कि शंकर से पहले कई लोगों के नाम मिलते हैं जिन्हें वेदान्त परम्परा में रखा जाता है। और कम से कम जैन आचार्य समन्तभद्र के प्रसिद्ध ग्रंथ आप्तमीमांसा में उनके मत के खंडन की चर्चा से ऐसा लगता है कि वह मत जो बाद में अद्वैत के नाम से प्रसिद्ध हुआ दार्शनिक सम्प्रदायों में उसकी चर्चा थी। अद्वैत की यह प्रसिद्ध मान्यता थी कि 'भेद' पूर्णत: असत्य है, इसका खंडन आचार्य समन्तभद्र यह कहकर करते हैं कि अद्वैत मत के मानने वालों को कम से कम 'हेतु' और 'साध्य' में भेद तो मानना ही पड़ेगा, क्योंकि वे अगर इस को नहीं मानते तो जो वे तर्क देते हैं वह 'दोषयुक्त' होगा।

इस सबसे ऐसा पता चलता है कि शंकर से पहले वेदान्त की मान्यता तो थी, और उसके मत का पता दार्शनिक सम्प्रदायों को था। लेकिन फिर भी उसका दार्शनिक क्षेत्रों में वह स्थान नहीं हो पाया था जो बौद्ध, जैन, न्याय, वैशेषिक, सांख्य आदि का था। इसलिए वेदान्त के इतिहास को शंकर से पहले और शंकर के बाद में, इन दो भागों में बाँटना ज़रूरी है और अद्वैत पर जो चर्चा शंकर के बाद होती है, उस चर्चा के संदर्भ में अद्वैत ने जो विशिष्ट रूप लिया है, उसकी ओर ध्यान देना इसलिए ज़रूरी है कि अद्वैत को समझने के लिए उन सब दार्शनिक खंडनों का समझना भी ज़रूरी है जिनके संदर्भ में ही अद्वैत का दार्शनिक रूप धीरे-धीरे बना।

अद्वैत के विरोध में युक्तियाँ एक तरफ से नैयायिकों ने दी हैं और दूसरी तरफ उन वेदान्तियों ने दी हैं जो शंकर की ब्रह्मसूत्र, उपनिषदों और गीता की व्याख्या से असहमत थे। इनमें से दूसरे लोग अधिक प्रसिद्ध हैं, क्योंकि वे ही वेदान्त के उन विभिन्न सम्प्रदायों से सम्बन्धित हैं जिन्होंने शंकर का प्रधानत: खंडन किया था। यामुनाचार्य से लेकर वल्लभ तक इनके नाम सबको विदित हैं, लेकिन इनके बारे में जो खास बात है उस पर किसी ने ध्यान नहीं दिया, क्योंकि अगर उस पर ध्यान दिया जाता तो एक बात अब तक साफ हो जाती कि अद्वैत वेदान्त वास्तव में 'दार्शनिक' मत है ही नहीं, और न ही अद्वैत, विशिष्ट अद्वैत या द्वैत या शुद्धाद्वैत आदि कोई दार्शनिक मत थे। इनका झगड़ा कोई वास्तविक दार्शनिक

झगड़ा नहीं होकर इस बात से था कि उपनिषदों का वास्तव में अर्थ क्या है। अगर यह बात ध्यान में रखी जाये तो वेदान्तियों के आपसी झगड़े दूसरी तरह से दिखने लगेंगे। उपनिषदों का वास्तव में अर्थ क्या है, यह बात ब्रह्मसूत्र से ही प्रारम्भ होती है, क्योंकि बादरायण की कोशिश ब्रह्मसूत्र में इसी बात पर थी कि उपनिषदों में परस्पर विरोधी दिखने वाली बातों का अंतर्विरोध कैसे मिटाया जाये।

इस संदर्भ में यह ध्यान रखना ज़रूरी है कि उपनिषद् नाम से जाने जाने वाले ग्रंथों को 'श्रुति' कहने का और मानने का अर्थ क्या है। श्रुति का अर्थ वैदिक परम्परा में केवल एक ही है और वह यह है कि प्रत्यक्ष और अनुमान के द्वारा मनुष्य सब जानने योग्य चीज़ों का ज्ञान नहीं पा सकता। और जिन चीजें का ज्ञान मनुष्य के लिए आवश्यक है, अगर वे प्रत्यक्ष और अनुमान से नहीं जानी जा सकतीं तो उनको जानने का कोई और रास्ता होना चाहिये। वह रास्ता मीमांसकों और वेदान्तियों के अनुसार श्रुति है।

एक तरह से यह बात जैन और बौद्ध परम्पराओं के बारे में भी सही है, क्योंकि जो बात महावीर और बुद्ध कहते हैं, उसका ज्ञान साधारण मनुष्य अपनी बुद्धि से, या अपने अनुभव से, प्राप्त नहीं कर सकते। फ़र्क केवल इतना है कि बुद्ध और महावीर ऐतिहासिक मनुष्य थे और उन्होंने अपनी साधना के द्वारा वह ज्ञान प्राप्त किया था जो प्रत्यक्ष और अनुमान से प्राप्त हो ही नहीं सकता। यही नहीं, वे उस 'ज्ञान' के पूर्ण प्रतीक थे, क्योंकि वह ज्ञान उनमें स्पष्टत: परिलक्षित, रूपायित और दृष्टिगोचर होता था। बुद्ध को देखते ही यह लगता था कि वे बुद्ध हैं – ऐसा ही महावीर के बारे में भी कहा जाता है। लेकिन अगर दोनों में यह सत्य चरितार्थ होता था तो फिर सीधा सवाल यह उठता है कि जिनको एक में वह दिखाई देता था, दूसरों को क्यों नहीं दिखाई देता था? इस बात का जवाब न बुद्ध को मानने वालों के पास है, न महावीर को। आगे चलकर यह बात उन अनेक संतों, महात्माओं के बारे में भी उठी जिनको उनके मानने वाले चिरन्तन सत्य के साक्षात् पारदर्शी प्रतिबिम्ब के रूप में देखते थे। शायद इसीलिए, वैदिक परम्परा के मानने वालों ने श्रुति को अपौरुषेय कहा। और जिन्होंने ऐसा नहीं माना उन्होंने उनको ईश्वर का कहा हुआ स्वीकार किया। लेकिन दार्शनिक संदर्भ में जो बात विशेष तौर पर ध्यान देने योग्य है वह यह है कि श्रुति का प्रामाण्य केवल उन्हीं बातों के बारे में स्वीकार किया गया जो मनुष्य की इन्द्रियों या बुद्धि से नहीं जानी जा सकती थीं। वे सब बातें जो आदमी अपनी बुद्धि से, और अपनी इन्द्रियों से जान सकता है उसके लिए श्रुति की कोई आवश्यकता नहीं समझी गई। पर अगर ऐसा माना जाता है तो सीधा सवाल यह उठता है कि क्या कोई भी ऐसी चीज़ है जो मनुष्य अपनी इन्द्रियों या बुद्धि, या दोनों के संयोग से, नहीं जान सकता? और अगर कोई ऐसी चीज़ हो तो उसे कैसे पता चलेगा कि इसको मैं अपनी बुद्धि या इन्द्रियों से नहीं जान सकता, क्योंकि यह जानने के लिए कम से कम उस चीज़

का ज्ञान होना ज़रूरी है, और साथ ही यह भी कि वह कुछ इस तरह की है कि उसे उसकी बुद्धि और इन्द्रियाँ नहीं जान सकतीं। लेकिन यह जानने के लिए भी उसे अपनी बुद्धि और 'इन्द्रियों की सीमा' जाननी होगी। नहीं तो, यह निश्चय कैसे होगा कि वह 'उसको' कभी भी जान ही नहीं सकता?

ध्यान से देखा जाये तो यह जानने के लिए मनुष्य को अपनी इन्द्रियों और बुद्धि के बारे में पूर्ण ज्ञान होना चाहिये। लेकिन यह अपने आप में असंभव है, क्योंकि आदमी यह कैसे तय कर सकता है कि वह उनको पूरी तरह जानता है? बुद्धि और इन्द्रियों का अपने आप को जानना ही वह समस्या है जिसको हल किये बगैर आदमी अपनी ज्ञान की सीमाओं के बारे में कोई बात कर ही नहीं सकता।

भारतीय परम्परा में इनकी सीमा दो प्रकार से निर्धारित करने की चेष्टा की गई थी। मीमांसकों का कहना था कि 'क्या करना चाहिए', 'क्या नहीं करना चाहिए' इसका ज्ञान न इन्द्रियों को हो सकता है न बुद्धि को। अब सवाल यह उठता है कि क्या सुख-दुःख की अनुभूति इन्द्रियों से प्राप्त होती है या श्रुति से और अगर सुख-दुःख इन्द्रियों से अनुभूत होते हैं तो फिर यह जानने के लिए कि क्या होना चाहिए, या क्या नहीं होना चाहिए हमें श्रुति की कोई आवश्यकता नहीं है। क्योंकि सुख की अनुभूति में ही यह निहित है कि उसका होना ठीक है और उसे होना चाहिये जबकि दूसरी ओर वेदान्त की परम्परा को मानने वाले दार्शनिकों का कहना यह था कि आत्मा और ब्रह्म का ज्ञान इन्द्रियों और बुद्धि के द्वारा नहीं मिल सकता और इसीलिए इनके लिए श्रुति की आवश्यकता है। पर आत्मा तो सहज अनुभूति का विषय है, उसी तरह जैसे सुख-दुःख। और आचार्य शंकर ने स्वयं इसको 'अहम् प्रत्यय' के विषय के रूप में देखा भी है।

मनुष्य की आत्म-चेतना इसी अहम् भाव में प्रतिबिम्बित होती है और इसलिए आत्मा का ज्ञान सबको कम से कम इस रूप में सहज उपलब्ध है। जहाँ तक ब्रह्म की बात है वह तो केवल एक 'शब्द' मात्र है। इससे जो इंगित किया जाता है वह भी सबको सहज उपलब्ध है। अगर, 'ब्रह्म' की जगह हम यह कहें कि 'कुछ' है। कुछ है, इससे कौन इंकार करेगा, हाँ, 'क्या' है इस पर अनेकों मतभेद हो सकते हैं, पर, सारे झगड़ों के बाद आखिर तय यही होगा कि उस 'कुछ' के बारे में ठीक-ठीक कहना मुश्किल है। बस इतना ही कह सकते हैं, कि है।

इतनी सी बात के लिए श्रुति की आवश्यकता हो, ऐसा कम से कम साधारण बुद्धि को तो ठीक नहीं लगता। हाँ, इसके आगे की जो बात है उस पर थोड़ा अधिक सोचने की ज़रूरत है। मीमांसकों ने 'धर्म' की बात कही और वेदान्तियों ने 'आत्मा' और 'ब्रह्म' के सम्बन्धों की। मीमांसा का कहना था कि सुख-दुःख के अलावा उचित-अनुचित का भी भेद है। क्या ठीक है, क्या गलत इसका ज्ञान इन्द्रियों व बुद्धि से नहीं हो सकता। लेकिन थोड़ी देर के लिए यह मान भी लें, तो भी क्या इसके लिये किसी वेद को मानने की ज़रूरत है? क्या हम यह नहीं सोच

सकते कि मनुष्य में केवल बुद्धि और इन्द्रियाँ ही नहीं हैं, बल्कि कोई अन्य ऐसी शक्ति भी है जो उसे उचित-अनुचित के भेद का ज्ञान कराती है। परम्परा में इसे 'प्रज्ञा' का नाम दिया गया था। ज़रूरत हो, तो कोई और नाम भी दिया जा सकता है। असली बात तो यह है कि क्या इस भेद को समझने के लिए मनुष्य को बाहर जाने की ज़रूरत है और किसी ग्रंथ-विशेष में उत्तर पाने की। मीमांसा के पास इस सवाल का कोई जवाब नहीं है।

यही बात आत्मा और ब्रह्म के सम्बन्ध की भी है। अहम् भाव में अनुभूत आत्म का उस 'कुछ' से क्या सम्बन्ध है इसका जवाब ढूँढने के लिए किसी ग्रंथ में जाने की आवश्यकता नहीं है। यह सम्बन्ध अनेकों प्रकार से सोचा जा सकता है और ये सब प्रकार एक तरह से 'सही' भी होंगे, क्योंकि उनके बारे में यह कहना कि ये ठीक है और ये गलत, नामुमकिन है। इसका कारण यह है कि जैसा भी सम्बन्ध आप सोचेंगे, इस 'सोचने' से ही, सत्य हो जायेगा। यहाँ 'सोचना' और होना एक ही बात है। 'होना' सोचने से अलग नहीं है और इससे भी विलक्षण बात यह है कि यहाँ एक-दूसरे से विरोधी लगने वाली बातें, एक-दूसरे का परिहार नहीं करतीं। यही नहीं, अगर आपने किसी एक सम्बन्ध को थोड़ी देर के लिए मान लिया तो उससे यह नहीं हो जाता कि हम किसी दूसरे सम्बन्ध को मान ही नहीं सकते।

इस संदर्भ में 'सोचना' चीज़ों के बारे में सोचने जैसा नहीं है। जब तक हम इस बात को नहीं समझेंगें तब तक दो-ढ़ाई हज़ार साल पुरानी बहस में फँसे रहेंगे।

इस पर कोई यह कह सकता है कि आखिर बौद्धों ने और चार्वाकों ने तो आत्मा को नहीं माना था, इसलिए यह कैसे कहा जा सकता है कि 'आत्मा' का पता सबको अपने अनुभव में साक्षात् होता है? इसका जवाब सीधा-सादा है, हालांकि इसके बारे में इतनी लंबी-चौड़ी बहस हुई है कि मनुष्य की बुद्धि पर आश्चर्य हुए बगैर नहीं रहता। बौद्ध लोग जिस आत्मा को नहीं मानते, वह अनुभूत आत्म नहीं है बल्कि उसके आधार पर एक ऐसा 'कल्पित' आत्मा है जिसकी चर्चा उन सब दर्शनों में है जो बौद्धों का विरोध करते हैं। यही बात एक तरह से चार्वाक के बारे में भी सही है, वह भी सुख-दुःख को मानते हैं और उस चेतना को स्वीकार करते हैं जो सुख-दुःख महसूस करती है। हाँ, वे यह नहीं मानते कि चेतना शरीर से अपने आप में कोई स्वतंत्र चीज़ है। उसको वह शरीर पर आश्रित मानते हैं, शरीर से उद्भूत। पर, शरीर को कौन नहीं मानता और शरीर के साथ इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, चेतना ये सब जुड़े हुए हैं और इनके बारे में जो भी 'सोचता' है, स्वीकार करता है और 'अहम्' का प्रयोग कौन नहीं करता? क्या बौद्ध 'अहम्' का प्रयोग नहीं करते या चार्वाक ऐसा नहीं कहता? तो फिर वह सब क्या है? व्यवहार-सत् या संवृति-सत् की बात कहकर इन सब को टाला नहीं जा सकता। जो जगत् है वह इन्हीं से बनता है। इनके आपसी सम्बन्धों को कोई किस

प्रकार देखता है, उससे बुनियादी बात पर कोई फ़र्क नहीं पड़ता। हाँ, जिस शरीर की बात लोग करते हैं यह भूलकर ही करते हैं कि वह शरीर जड़ नहीं है, प्राणवान् है, जीवन्त है, और 'जीवित' होने का मतलब क्या होता है, इसकी चर्चा भारतीय दर्शन में शायद ही ढूँढे मिलेगी। इन्द्रियों की बात बहुत है पर 'मरे' हुए शरीर में इन्द्रियाँ भी मरी हुई होती हैं। उनसे कोई 'ज्ञान' प्राप्त नहीं होता। इस 'प्राण' का चेतना से क्या सम्बन्ध है इसकी बात शायद ही भूले-भटके दार्शनिक ग्रंथों में मिलती हो। आखिर जब आदमी बेहोश होता है तो वह जीवित तो होता है पर उसमें वह चेतना नहीं होती जो जब वह होश में आता है। इस जरा सी बात पर न वेदान्त के ग्रंथों में विचार है, न सांख्य के ग्रंथों में, न चार्वाक में। स्वप्न और सुषुप्ति की बात बहुत है पर इस जरा सी रोज़मर्रा होने वाली बात पर ध्यान क्यों नहीं दिया? बेहोश होना मर जाना नहीं है, सपना देखना नहीं है, सोना नहीं है।

पर खाली जीवन्त शरीर के बारे में बात करने से काम नहीं चलेगा। शरीर भी हो, प्राण भी हो, इन्द्रियाँ भी हों, विषय भी हो, पर अगर 'ध्यान' नहीं दिया जाये तो कुछ भी नहीं दिखेगा। 'ध्यान किधर है' की बात सबको पता है, 'ध्यान बँट गया है' रोज़मर्रा का अनुभव है, 'एकाग्रचित्त' करना आसान बात नहीं है, फिर यह 'एकाग्रता' क्या है? यह कम से कम शरीर का गुण नहीं है, और न इन्द्रियों का गुण है। फिर यह 'मन' का गुण है या किसी और का? और अगर किसी और का है, तो मन क्या है?

मन की बात भारतीय दर्शन में है या नहीं, यह कहना मुश्किल है। पर, इतना तो साफ़ ही है, चाहे वेदान्ती हों या बौद्ध, सांख्य हों या चार्वाक, नैयायिक हों या कोई और, मन का लक्षण किसी के पास नहीं है। हाँ, मन को मानते सब लोग हैं, पर इसका इन्द्रियों से क्या सम्बन्ध है, बुद्धि से क्या सम्बन्ध है, चेतना से क्या सम्बन्ध है, इसकी चर्चा शायद ही कहीं मिले।

यही बात 'बुद्धि' के बारे में भी सच मालूम होती है। प्रमाण-प्रमेय की चर्चा सब जगह है, चार्वाक में भी, परन्तु इसका बुद्धि से क्या सम्बन्ध है। यह दर्शन शास्त्रों में ढूँढ पाना मुश्किल है। न्याय जो प्रधानतः प्रमाण शास्त्र माना जाता है, उसमें 'बुद्धि' को उपलब्धि या ज्ञान का पर्याय माना है। उसकी स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार की हो, ऐसा नहीं लगता। वेदान्तियों की बात तो और अजीब है, वे 'प्रमाण' तो नैयायिकों से भी ज़्यादा मानते हैं, पर यह प्रमाण व्यावहारिक है, क्या है, और किसका है, इसकी चर्चा उनके यहाँ मुश्किल से ही ढूँढ़े मिलेगी। लगता है, भारत के दार्शनिकों ने खंड़न-मंड़न तो बहुत किया, पूर्व-पक्ष और सिद्धान्त की बात हमेशा की, पर वह किसका व्यापार है, उसका जिसका व्यापार है, लक्षण क्या है, इसकी बात करना भूल गये। यह ठीक है, इन्द्रियों और 'पुरुष' के बीच सांख्य ने मन, बुद्धि और अहंकार की चर्चा की है, पर सांख्य कोई विशेष लक्षण प्रदर्शित करता प्रतीत नहीं होता। और, जहाँ तक 'प्रज्ञा' की बात है, उसकी

'बात' तो शायद केवल बौद्धों में ही मिलती है। अलबत्ता, धर्म की बात धर्म और स्मृति ग्रंथों में मिलती ज़रूर है, और धर्म को स्वतन्त्र पुरुषार्थ के रूप में स्वीकार भी किया गया है, पर 'धर्म' किसका व्यापार है और धर्म का लक्षण क्या है इसकी चर्चा, मुश्किल से ही मिलती है। हाँ, मीमांसा में धर्म की चर्चा ज़रूर की गई है और वह भी केन्द्र रूप में, पर धर्म को केवल विधि-विशेष के रूप में देखा है और इस बात की तो चर्चा नहीं है कि वह किसका व्यापार है। यह शायद इसलिए था कि उनके लिए धर्म का स्रोत मनुष्य में न होकर उसके बाहर उस श्रुति में था जो उसके लिए 'अपौरुषेय' थी।

पर, इससे जो समस्याएँ उत्पन्न हुईं उन पर शायद उन्होंने ध्यान ही नहीं दिया। एक ओर तो धर्म के बारे में जो कुछ भी धर्म-ग्रंथों में लिखा गया था, इससे उसकी अवहेलना ही नहीं, उसका निरादर भी हुआ। धर्म के बारे में जब स्मृति यह कहती है कि 'धर्मस्य तत्त्वम् निहितम् गुहायाम्' तब वो किसी अपौरुषेय श्रुति की बात नहीं करती, पर उसके स्थान पर मनुष्य के भीतर स्थित उस बोध की बात करती है जो उसे सतत् इसका आभास कराता रहता है कि, 'यह ठीक है', 'यह गलत है'।

मीमांसा के लिए तो समस्या और भी गहरी है, क्योंकि एक तो वह ये मानता है कि श्रुति का प्रामाण्य उन्हीं बातों के लिए है जिनका ज्ञान प्रत्यक्ष और अनुमान के द्वारा नहीं हो सकता, दूसरी ओर वह ऐसे यज्ञों की बात भी करता है जिनका फल अदृष्ट न होकर दृष्ट है। सब यज्ञ, 'स्वर्गकामोयजेत्' जैसे ही नहीं होते, 'वृष्टिकामोयजेत्', 'पुत्रकामोयजेत्' आदि भी उसी प्रकार के विहित कर्म है, जैसे 'स्वर्गकामोयजेत'। पर, बारिश होना या पुत्र होना तो लौकिक बातें हैं, जो प्रत्यक्ष से जानी जाती हैं। उनके लिए वेद का सहारा लेना हँसी की बात ही मानी जायेगी, या मूर्खता की।

यज्ञ के बारे में मीमांसा के सामने एक और सवाल है जो उठना चाहिये था लेकिन उठा नहीं। मीमांसा यज्ञों को दो कोटियों में बाँधता है-एक, जिन्हें वह 'प्रकृति-यज्ञ' कहता है, दूसरा वह, जिन्हें वो 'विकृति यज्ञ' कहता है। प्रधान यज्ञ, प्रकृति यज्ञ ही थे, उनमें परिवर्तन करके 'विकृतियज्ञ' बनते हैं, लेकिन अगर ऐसा है तो विकृतियज्ञों की संख्या में कोई सीमा बताई ही नहीं जा सकती।

और, यह पता लगाने की बात है कि क्या 'प्रकृतियज्ञों' के फल ही अदृष्ट होते थे और उन्हीं के लिए वेद का प्रामाण्य स्वीकार करने की ज़रूरत समझी थी, जबकि विकृतियज्ञ मनुष्य ने बाद में अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए उनमें थोड़ी बहुत तब्दीली करके बनाये थे।

इस संदर्भ में एक बात और ध्यान देने योग्य है कि धर्म की चर्चा मीमांसा में ही नहीं, वैशेषिक दर्शन में भी पाई जाती है। 'वैशेषिक सूत्र' का प्रारंभ ही इस

प्रतिज्ञा से होता है कि वह धर्म की व्याख्या करेंगे और धर्म के लक्षण में उन्होंने यह कहा है कि धर्म वह है जिससे 'अभ्युदय' और 'निःश्रेयस' दोनों की प्राप्ति होती है। अब यह कहा जा सकता है कि वेद, श्रुति या आगम की आवश्यकता अभ्युदय के लिए न हो कर निःश्रेयस या मोक्ष या निर्वाण या कैवल्य या 'केवलिन' होने के लिए ज़रूरी है। यह बात परम्परा में अनेक प्रकार से कही भी गई है, लेकिन इसको मानने की कोई ज़रूरत दिखाई नहीं देती। 'बंधन' की अनुभूति आत्मचेतना के साथ जुड़ी हुई है और स्वतन्त्रता की आकांक्षा भी उसी के साथ बँधी है, इसके लिए किसी बुद्ध या महावीर या शैव, वैष्णव आदि आगमों की या वेद-उपनिषद् की ज़रूरत नहीं है। बंधन अनेक प्रकार के हैं, शरीर का, मन का, बुद्धि का, प्रज्ञा का भी, और पता नहीं किस-किस का। चेतना अपने को बाँधती भी है और खोलती भी है, और कम से कम खोलने या मुक्त होने की कोशिश तो करती ही है। इसके लिए उसका अपना अनुभव, उसकी अपनी परेशानियाँ, अपनी सफलतायें काफ़ी हैं, इसके लिए किसी बाहर का सहारा ढूँढने की ज़रूरत नहीं है। हाँ, दूसरों ने भी ऐसी मुसीबत उठाई है और कुछ-कुछ सफलतायें प्राप्त की हैं। इससे थोड़ा बहुत आराम मिल सकता है। लेकिन हर एक जानता है कि करना तो उसे स्वयं ही पड़ेगा, कोई दूसरा उसकी खास मदद नहीं कर सकता।

'प्रज्ञा' से उत्पन्न बंधन की बात शायद अजीब लगे लेकिन जिस परम्परा में 'निस्त्रैगुण्य' की बात और 'द्वन्द्वातीत' की बात कही गई है, उसे यह अजीब नहीं लगना चाहिये। 'अच्छे-बुरे' का भेद भी आखिर भेद ही है, और मनुष्य की चेतना इससे ऊपर उठकर उस स्वतंत्रता का बोध करना चाहती है जहाँ इस प्रकार के बन्धन उसे महसूस ही न हों। यही बात सत् असत् की भी है, सुन्दर व असुन्दर की भी लेकिन इसकी बात तो की गई है, पर इसके भयावह परिणामों की ओर ध्यान नहीं दिया गया। क्या 'मनुष्य' मनुष्य रहते हुए, आत्म चेतना के इन मूलभूत द्वन्द्वों को छोड़कर मनुष्य रह सकता है। और अगर नहीं रह सकता तो फिर उसके सामने मूलभूत समस्या यह है कि स्वतंत्र होते हुए, पूर्ण स्वातंत्र्य की आकांक्षा करते हुए, उसकी साधना करते हुए, वह किस प्रकार अपने मूल्यबोध या श्रेयबोध को जीवित रखते हुए रह सकता है। इसका उत्तर श्रुति या आगम में नहीं, मनुष्य की अपनी आत्मचेतना की साधना में ही मिल सकता है। गीता में इसकी कोशिश ज़रूर की गई थी निष्काम कर्म की कल्पना करके, पर निष्काम का अर्थ क्या है इसके बारे में गीता ही स्पष्ट नहीं है। कम से कम महाभारत की कथा से तो यही परिलक्षित होता है कि कृष्ण ने निष्काम की बात तो की पर वह स्पष्ट नहीं थी वरना उनका व्यवहार उतना विरोधी नहीं दिखता जितना वह स्पष्टतः दिखाई देता है। कृष्ण को महाभारत का युद्ध जीतना था, और उसे जीतने के लिए, दुर्योधन पर जय पाने के लिए, वह सब कुछ करने के लिए तैयार थे। यह निष्काम हो सकता

है, पर उस अर्थ में नहीं जिस अर्थ में आज 'निष्काम' को समझा जाता है और उसकी बात की जाती है।

लगता है कि मनुष्य के कर्म पर चिन्तन और उसके पुरुषार्थों की व्याख्या परम्परा से हटकर ही करनी पड़ेगी। परंपरा पीछे की ओर मुड़ती है, जो हो चुका है उसको पकड़े रहती है और उसको ऐसा लगता है कि जो कुछ भी सच है, वह सब पहले ही समझा जा चुका है और हमारा काम सिर्फ उसको दोहराना है, कुछ नया करना नहीं। यह बात सिर्फ हमारी परम्परा के लिए ही सच नहीं है, दूसरी सभ्यता और संस्कृतियों के बारे में भी उतनी ही सच है जितनी हमारी सभ्यता व संस्कृति के बारे में। पर, 'पुराने' को न बिल्कुल छोड़ा जा सकता है और न उसे पूरी तरह भुलाया जा सकता है, क्योंकि हम उसके आधार पर ही खड़े हैं और जो भी हम सोचते या करते हैं, उसका आधार भी वही है। न भाषा को हमने बनाया है, न संस्कृति को, जो हमें धरोहर में मिली है और पढ़ने-लिखने का मतलब ही यह होता है कि हम उसको जानें जो पहले हुआ था और यही नहीं, बहुत जल्दी ही हम जो 'नये' हैं, पुराने हो जायेंगे। और आगे आने वाली पीढ़ी हमें उसी तरह से देखेगी जैसे हम आज 'पुरानी' बातों को देखते हैं। लेकिन ऐसा तो हमारे साथ ही नहीं, उनके साथ भी होगा, और अगर आगे की ओर ध्यान दें तो लगेगा कि उनकी कहानी भी वही होगी जो पहले की कहानी हुई थी।

इस तरह देखने पर 'पुराने' और 'नये' का भेद समाप्त हो जाता है, और हम अपने को उस 'मध्य' में पाते हैं, जिसके पहले बहुत कुछ हो चुका है, और जिसके आगे बहुत कुछ होने को है। इस तरह देखने पर शायद हमें एक नई दृष्टि मिल सकती है जो परंपरा को मानती ज़रूर है पर उससे बँधती नहीं, और न ही उसे अपने 'नयेपन' पर कोई खास गर्व होता है। उसका 'नयापन' 'अहंकार' को जन्म तो नहीं देता, पर एक दायित्वबोध को उत्पन्न करता है। जो हो चुका है, और जो होने वाला है उसके प्रति समान रूप उत्तरदायित्व महसूस कराता है। दूसरों से हमने कुछ लिया था और दूसरों को कुछ देना है, इस लेने-देने के बीच में ही हमारी सत्ता है और जो कुछ भी हमसे ईमानदारी से हो सकता है वही करना हमारा कर्त्तव्य है।

इस बात को परम्परा में इतनी अच्छी तरह से कहा गया है कि शायद उससे अच्छी तरह कहना मुश्किल है। ऋण की बात कही गई है और 'ऋण' को पितृ, गुरु और देव के संदर्भों में बाँटा गया है। ऋण से उऋण होने का एक ही तरीका बताया गया है। जो हमें मिला है उसे किसी दूसरे को दें, लेकिन, वैसे का वैसे ही नहीं, उसमें कुछ जोड़कर, कुछ बढ़ाके, कुछ नई दिशा दे के, कुछ इस तरह करके कि जो हमारे से कुछ लें, जिन्हें दें, वे 'खुलापन' महसूस करें, उनमें कुछ उत्साह आये, और वो ये महसूस करें कि करने को बहुत कुछ है, अभी तो कुछ हुआ ही नहीं है।

संस्कृति और सभ्यताओं की हज़ारों साल की कहानी को इसी तरह देखना चाहिए, और आगे बढ़ाना चाहिए। पर, आज मनुष्य के सामने समस्या यह है कि वह इन विभिन्न सभ्यता और संस्कृतियों से क्या ले, क्योंकि आज वह अपने को मनुष्य के रूप में अधिकाधिक देखने लगा है और यह रूप किसी संस्कृति-विशेष से ही सम्बन्धित होता है। इस चेतना ने आज मनुष्य में उस समस्या को जन्म दिया है जिसकी ओर बहुत कम ध्यान दिया गया है। संस्कृतियों की बात करते ही भारत की, चीन की, ग्रीस की, पश्चिम की, अरब देशों की, और शायद अफ्रीका की भी बात होने लगती है। लेकिन आज यह बात अटपटी लगती है, क्योंकि धीरे-धीरे मनुष्य को ये लगने लगा है कि ये संस्कृतियाँ कितनी ही अलग-अलग हों, आज वह इन सबका उत्तराधिकारी है; इस चेतना को फैलने में समय लगेगा लेकिन ये फैलेगी ज़रूर, क्योंकि यह ईमानदारी से कहना मुश्किल है कि 'मैं' किसी संस्कृति विशेष का ही सदस्य हूँ। विज्ञान और वाणिज्य ने संसार को जिस तरह 'एक' करने की कोशिश की है उससे एक नई चेतना का जन्म होता दिखाई देता है। यही नहीं, आज जब हम मनुष्य के अधिकार की बात करते हैं तो किसी मनुष्य-विशेष की नहीं करते। बात स्त्रियों के अधिकार के बारे में हो, प्रकृति के बारे में हो, या और भी ऐसी बहुत सी बातों के बारे में।

इस नई चेतना का मनुष्य की पुरानी संस्कृतियों से क्या रिश्ता बनेगा और वह आगे के लिए कैसे सोचेगी और किस प्रकार अपना कर्त्तव्य निभायेगी, ये किसी को स्पष्ट नहीं है। लेकिन इस पर सोचना, इसके बारे में बहस करना और इसके संदर्भ के बारे में बात करना हमारा जो हो चुका है और जो होने वाला है उसके प्रति दायित्व तो है ही। इसमें वेदान्त की दृष्टि एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकती है, इसमें शायद ही किसी को संदेह होगा। पर, वह वेदांत न शंकर का होगा, न रामानुज, न मध्व का, न वल्लभ का। अगर हो, तो विवेकानन्द का होगा, दृष्टि को भी नया रूप देना पड़ेगा और आज की दृष्टि यही सत्यवादी चुनते हैं।

❑

वर्तमान के संदर्भ में अतीत की प्रासंगिकता

सागर और भोपाल के बीच रायसेन का जो इलाका है, वहाँ आज से बीस हजार वर्ष पहले या इससे कम-ज्यादा, कुछ लोगों के रहने का, जिन्होंने वहाँ चित्र बनाये हैं, पता लगता है। आदमी अभिव्यक्ति करता है अपने को चित्रों में, आदमी अनेकानेक चीजों में अपने को अभिव्यक्त करता है। चित्र में ही नहीं काव्य में भी, संगीत में, दर्शन में, साहित्य में बहुत सारी चीजों में; तो ये अभिव्यक्ति की परम्परा क्या है? आदमी क्या करना चाहता है? क्या कहना चाहता है? जब हम इस पर विचार करते हैं, तो एक दरवाजा खुलता है। हम बहुत पीछे जाते हैं कि आखिर परम्पराओं का प्रारम्भ कहाँ से हुआ? ये जो अभिव्यक्ति की परम्पराएँ हैं, ये कहाँ से प्रारम्भ हुईं? वास्तव में जब कभी प्रारम्भ की बात होती है तो कोई उत्तर नहीं मिलता क्योंकि पीछे आप जाते-जाते वेदों तक जाते हैं या फिर उसके पीछे हड़प्पा की संस्कृति आपके सामने है। उसका भी एक अनन्त विस्तार है, उसमें भी बहुत सारी चीजें मिलती हैं। लेकिन उसकी जो लिखावट है उसको अभी पहचाना नहीं गया है। एक तरह से वह मूक संस्कृति है। कितनी अजीब बात है! हजारों चीजें मिलती हैं। व्यापकता मिलती है, बंदरगाह मिलता है लोथल का, व्यापार के क्षेत्र मिलते हैं, मेसोपोटामिया में अवशेष मिलता है, लेकिन फिर भी संस्कृति को हम मूक कहते हैं, क्योंकि इसकी भाषा का पता नहीं लगा है। चिह्न हैं लेकिन हम समझ नहीं पाये, सब कुछ होते हुए भी मूक है और जैसे भाषा पता लगती है, मुखर होती है, लगता है कोई बोल रहा है, कौन बोल रहा है? वेद सबसे प्राचीन ग्रन्थ लगते हैं और उनमें वो बोलते हैं। वेद स्वयं कहता है कि मैं कम से कम तीन स्तरों पर समझा जा सकता हूँ। भाग्य की ये कैसी बात है कहने वाला ये कह रहा है कि मैं तीन स्तरों पर समझा जा सकता हूँ। यही नहीं, इसके बाद जैसे ही हम थोड़ा आगे बढ़ते हैं और पता चलता है कि वेद को समझने की समस्या आज की नहीं, बड़ी पुरानी है पहला ही ग्रन्थ **यास्क** का **निरुक्त** जो वेद को समझने की कोशिश में निकला है, वो बताता है कि वेद को समझने के लिए कई शब्दों का एक ही अर्थ होता है और एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। कैसी समस्या है जब संस्कृति, सभ्यताएँ मुखर होती हैं, तब भी समस्या रहती है—उनको कैसे समझें? ये समझने की परिपाटी बड़ी पुरानी है। कम से कम ये तो मानते हैं कि जो लोग